गांधी अर्थ-विचार

डॉ. जे.सी. कुमारप्पा

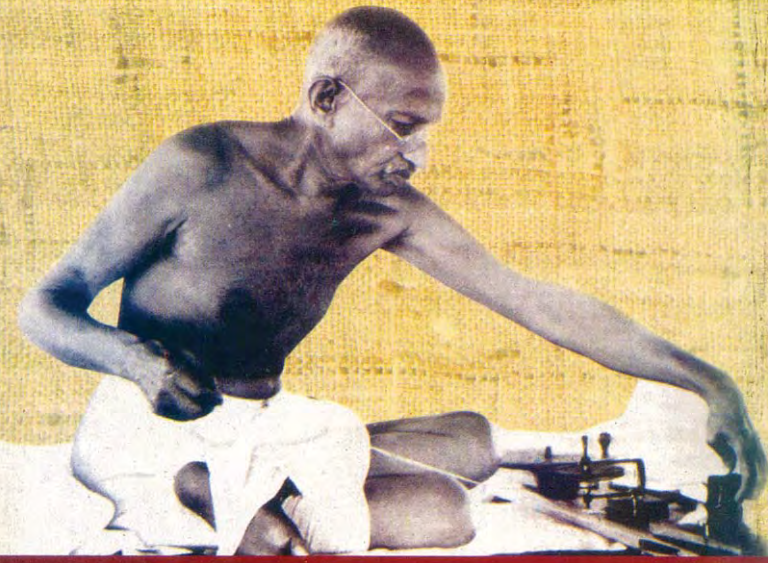

गांधी अर्थ-विचार

[Gandhian Economic Thought का हिन्दी अनुवाद]

लेखक

जो० कॉ० कुमारप्पा

अनुवादक

सुरेशराम

GANDHI BOOK CENTRE
Bombay Sarvodaya Mandal
299 Tardeo Road, Nana Chowk,
Mumbai 400007 INDIA ✆ : 2387 2061
email : info@mkgandhi.org
www.mkgandhi.org

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी—२२१ ००१

गांधी अर्थ-विचार

•

© सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

लेखक
जो० कॉ० कुमारप्पा
अनुवादक
सुरेशराम

•

संस्करण : चौथा
प्रतियाँ : २,०००
कुल प्रतियाँ : ९,०००
मई, २०१०

•

प्रकाशक
सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
राजघाट,
वाराणसी—२२१ ००१
फोन-फैक्स : ०५४२-२४४०३८५
E-Mail : Sarvodayavns@yahoo.co.in.

•

अक्षर संयोजन
सागर कम्प्यूटर्स, इलाहाबाद

•

मुद्रक :
सुरभि प्रिंटर्स
इण्डियन प्रेस कॉलोनी
मलदहिया, वाराणसी—२२१ ००२

•

मूल्य : बीस रुपये

GANDHI ARTHA-VICHAR

•

J.C. Kumarappa

•

Price : Rs. 20.00

प्रकाशकीय

यथा नाम तथा गुण की तरह आचार्य जो० का० कुमारप्पा द्वारा रचित 'गांधियन इकोनामिक थाट' का यह हिन्दी अनुवाद 'गांधी अर्थ-विचार' के रूप में सुविज्ञ पाठकों के लिए प्रकाशित करते हुए हर्ष हो रहा है।

आशा और विश्वास है कि पूर्व संस्करणों की तरह यह संस्करण भी लोकप्रिय साबित होगा।

●

भूमिका

महात्माजी कहा करते थे कि दुनिया के धर्म-ग्रंथ ही इंसान के लिए सबसे अच्छे और जोरदार अर्थशास्त्र भी हैं। लेकिन आजकल की विद्या या ज्ञान की रोशनी जिन्हें मिली है या मिलती है, उन्हें इस चीज से संतोष नहीं होता। वे तो उसी चीज को शास्त्र मानेंगे, जो उन्हीं की बोली में कहा या लिखा जाये। महात्माजी ने अपने जीवन से धर्म-ग्रंथों वाले अर्थशास्त्र को सिद्ध किया। लेकिन यह शास्त्र लिखने का काम उनका नहीं था। यह दूसरों को ही करना पड़ता है। आचार्य जो० कॉ० कुमारप्पा ने महात्माजी के जीवन-काल में ही यह काम कामयाबी के साथ उठा लिया था। अपने लेखों, व्याख्यानों और पुस्तकों से उन्होंने इस धर्मशास्त्र की इमारत की बुनियादें सही-सलामत रूप से खड़ी कर दी हैं। इसी का नतीजा है कि जहाँ और अर्थशास्त्र माने जाते हैं, वहाँ गांधी-अर्थशास्त्र भी टक्कर की चीज गिनी जाती है।

लेकिन गांधी-अर्थशास्त्र क्या है, इसका स्वरूप कैसा है—यह बात साफ तौर से किताबी ढंग में सामने नहीं आयी थी। इसलिए जब बम्बई के नामी अर्थशास्त्री प्रोफेसर सी० एन० वकील ने, जो बम्बई यूनिवर्सिटी के स्कूल ऑफ एकॉनॉमिक्स एण्ड सोशियालॉजी के डाइरेक्टर थे, श्री कुमारप्पाजी से इसके पेश करने के लिए अपील की, तो उन्होंने खुशी से मंजूर किया। इस तरह यह किताब 'गांधियन एकॉनॉमिक थॉट' लिखी गयी, जो आज 'गांधी अर्थ-विचार' के नाम से हिन्दी जगत् में आ रही है। जैसा इस किताब के शुरू में ही कहा गया है, गांधीजी के अर्थशास्त्र के उसूल नाम की कोई चीज ही नहीं है, गांधीजी के लिए तो अर्थशास्त्र जीवन के एक तौर-तरीके का हिस्सा है और सिर्फ दो जीवन-उसूल हैं, जिनके मातहत गांधीजी के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और दूसरे सभी ख्यालात रहा करते हैं—इसको गांधी-अर्थशास्त्र नाम न देकर 'गांधी अर्थ-विचार' नाम दिया गया है।

कहने की जरूरत नहीं कि आज इस विचार के सही शक्ल में सामने आने की सख्त जरूरत थी, खासकर यूँ भी, जब देश की आर्थिक हालत सुधारने के बारे में तरह-तरह की योजनाएँ चल रही हैं और क्या सरकारी, क्या गैरसरकारी, इसके लिए अनगिनत कदम उठाये जा रहे हैं, जिनमें

लाखों-करोड़ों रुपया-पैसा और बेइन्तहां शक्ति का खर्च हो रहा है। प्रोफेसर वकील ने मूल अंग्रेजी किताब की भूमिका में लिखा है :

''जहाँ तक आर्थिक विकास की बात है, हमारे ऊपर असर दो चीजों का पड़ता है, एक तो पच्छिमी विचारों का और दूसरे गांधीजी के आर्थिक विचारों का, जो हमारे हुक्कामों के धर्म का हिस्सा-सा बन गये हैं। लेकिन इन दोनों नजरियों को ठीक से न बैठाने का नतीजा यह हुआ है कि अक्सर हम यह देखते हैं कि एक के ऊपर बिना किसी तुक के दूसरा थोप दिया जाता है। देश को इन दो में से—पच्छिम में बढ़ी-पनपी वेलफेयर स्टेट की कल्पना और गांधीजी के विचारों से निकलनेवाली आर्थिक जीवन की कल्पना—एक को पसंद करना पड़ेगा और जितनी जल्दी वह यह कर ले, उतना बेहतर है। यह भले मुमकिन हो कि पहली कल्पना में दूसरे के असर से कुछ रद्दोबदल कर लिया जाय। लेकिन यह जाहिर है कि दोनों कल्पनाओं का तर्ज एकदम अलग है और उन्हें आसानी से मिलाया नहीं जा सकता। लेखक ने इस किताब में जो कहा है, उस सबसे हम सहमत नहीं हैं। सच्ची बात यह है कि इसमें बहुत-सी चीजें ऐसी हैं, जिन पर हमारी राय दूसरी है। लेकिन महत्व की चीज यह है कि हमारे मौजूदा सवालों के हल करने में इन विचारों से कहाँ तक और किस तरह मदद ली जा सकती है और हमारी सरकार की नीति पर वह क्या असर डाल सकते हैं। हमें उम्मीद है कि देश के अन्दर के आर्थिक मतमतान्तर के जलवायु को ज्यादा अच्छी तरह समझने के लिए डॉ० कुमारप्पा की इस कोशिश से बहुत काफी मदद मिलेगी।''

प्रोफेसर वकील ने दो-टूक बात कही है कि हमें—उनका मतलब हिन्द सरकार और उसकी शाखा सरकारों से है—यह तय कर लेना चाहिए कि देश को गांधीजी के रास्ते पर से चलना है या पच्छिम के रास्ते पर। इस चीज में टालमटोल करने की वजह से आज सरकार और जनता के बीच एक खाईं बन गई है, जो लगातार चौड़ी होती जाती है। आचार्य कुमारप्पाजी ने इस किताब में साफ-साफ कहा है कि गांधीजी के विचारों, यानी सत्य और अहिंसा के आधार पर खड़ी होनेवाली कल्पना ही हिन्दुस्तान में टिक सकती है और देश को डूबने से बचा सकती है।

इलाहाबाद
29-10-'51

—सुरेशराम

●

अनुक्रम

1. **गांधी-अर्थनीति की बुनियाद** 7-21

   गरज 7, कुरदती साधन 12, पैदावार 14, पैदावार के तरीके 14, महाजनी और व्यापार 17, सहयोग 18, रहन-सहन का दर्जा 19।

2. **खेती-अर्थनीति और गाँव-सुधार** 22-31

   कारखानां या धंधा 22, खाद 22, अनाज का भाव 27, मिलकियत 28, मदद 29, हक और जायदाद 30, सामाजिक असर 31, पैदावार का बँटवारा 31।

3. **खेती के धंधे और गाँव के धंधे** 32-38

   मकसद 33, लोकराज्य 38।

4. **मिलवाली अर्थनीति** 40-54

   कारगुजारी 40, ताकत 42, ट्रैक्टर 44, बिजली 44, जन-हित के साधन 47, बिखराव 48, काम 49, शख्सियत का विकास 50।

5. **समाजवाद, साम्यवाद और गांधी-अर्थनीति** 55-62

   लश्करबन्दी 56, गांधीवादी-अर्थनीति 58।

6. **आखीर** 63-64

गांधी-अर्थनीति की बुनियाद : 1 :

अगर कोई यह पूछे कि गांधीवाला जो अर्थशास्त्र है, उसके क्या उसूल हैं, तो हम यही कहेंगे कि ऐसी कोई चीज ही नहीं है। गांधीजी के लिए तो अर्थशास्त्र जीवन के एक तौर-तरीके का हिस्सा है। अर्थशास्त्र पर लिखी जानेवाली किताबों में जो आम कायदे-कानून बताये जाते हैं, वे किन्हीं उसूलों के मातहत होते हैं। लेकिन गांधी अर्थ-विचार में ऐसा भी नहीं होता। सिर्फ दो जीवन उसूल हैं, जिनके मातहत गांधीजी के आर्थिक, सामाजिक, राजकीय और दूसरे सभी ख्यालात रहा करते हैं। वे हैं सत्य और अहिंसा। इन दो कसौटियों पर मानो जो चीज खरी नहीं उतरी, उसे गांधीवादी नहीं कहा जा सकता। अगर चीजों की कोई सूरत ऐसी बन जाती है कि उससे हिंसा पैदा हो या उसमें झूठ की जरूरत पड़ जाय, तो हम उसे गैर-गांधीवादी कह सकते हैं।

इन दो उसूलों को हम लें और जीवन के हर पहलू में इन्हें लगाकर यह देखें कि कहाँ सत्य है, कहाँ अहिंसा पैदा की जा सकती है। अगर किसी वक्त यह मकसद हासिल न होते हों, तो उन रास्तों को छोड़ देना चाहिए।

सबसे पहले हम यह विचार करेंगे कि गरज या मन्शा कितनी तरह की होती हैं। इसके बाद इन्सानी खान्दान के मेम्बरों की आपस की नातेदारी पर विचार करेंगे और आखिर में तरह-तरह के कुदरती साधनों पर। फिर इसके बाद यह देखेंगे कि अपने रोजाना के जीवन में इन चीजों का मेल कैसे बैठाया जा सकता है।

गरज

अगर हम इन्सानी खान्दान को लें, तो अपने नजरिये के मुताबिक हम इसे पाँच अलग जातों में बाँट सकते हैं। यह चीज हमें जानवरों की मामूली जिन्दगी में भी मिलती है। मिसाल के तौर पर चीते को लीजिये, जो सबमें ज्यादा हिंसक और बेरहम है। यह अपनी माली जिन्दगी के लिए क्या किया करता है? अपना खाना कैसे पाता है? जानवरों को या जो मिल जाये, उसे मार-मारकर खाया करता है। चीता कुछ पैदा नहीं करता, पैदावार के काम में रत्तीभर मदद नहीं पहुँचाता, लेकिन बगैर पैदा किये सर्फ कर डालता है।

यह नमूना है खर्च बिना पैदावार का। और चीता रहता कहाँ है? पहाड़ियों में, गुफाओं में, खन्दकों में। इसलिए जहाँ तक चीते के खाने का वास्ता है, वह आदमखोर है और इसके रहने-सहने का ढंग लुटेरू है।

बन्दर को लीजिये। यह अपनी खुराक कैसे पाता है? इधर-उधर यह फल तोड़ा, यह पत्ती ली, वह ली, यह लिया, वह लिया, यानी लूट मचाता है। बन्दर अपनी खुराक देनेवाले साधन को खत्म नहीं कर डालता, लेकिन जो मयस्सर होता है, उसे ले लेता है। चीते और बन्दर की मिसालों से दो रास्ते साफ समझ में आ जाते हैं। दोनों ही बिना कुछ पैदा किये खर्च करते हैं और जो सामने पड़ गया, उस पर गुजर करते हैं। जरा दूर तक देखें, तो पता चलेगा कि दोनों की एक-सी हालत है, लेकिन जब यह सवाल आता है कि हिंसा कितनी हो रही है, तो दोनों में फर्क मालूम पड़ता है। चीता बन्दर के मुकाबले कहीं ज्यादा हिंसक है। बन्दर अपनी खुराक के साधन को तबाह नहीं कर डालता। एक आदमखोर है, दूसरा लुटेरा। दोनों खुदखुरे हैं। अपना फर्ज निभाने का उन्हें कोई माद्दा नहीं है। वे केवल अपनी भूख-लालच और खुदखुरी के तौर पर—जिनकी बुनियाद हक या अधिकार पर है—सोच सकते हैं।

अब हम तीसरी हालत पर आते हैं, जिसमें फर्ज और हक का समतोल है। इसको हम 'कारोबारी सूरत' कह सकते हैं। इसमें आप पैदा करते हैं और फिर खर्च करते हैं। घरों के अन्दर छोटी-छोटी चिड़ियों के घोंसलों को देखिये। अपनी चोंच से वह तिनके, फूस, रूई वगैरह जमा करके घोंसले बनाती हैं। चीता गुफा में रहता है, लेकिन चिड़िया अपना घोंसला बनाकर रहती है। वह घोंसला ऐसी जगह बनाती है, जहाँ बिल्ली न पहुँच सके। मेहनत और दूरंदेशी से तैयार की हुई पनाहगाह में उसे मजा आता है। यह हुआ पैदा करके खर्च करना। चिड़िया निजी माल का हक बरतती है। क्योंकि अगर दूसरी चिड़िया आये, तो वह चोंच मारकर उसे भगा देगी। इसमें हक और फर्ज मिले हुए हैं।

चौथी सूरत गिरोहबन्दी की है, जिसमें शहद की मक्खी आती है। वह शहद किस तरह जमा करती है? उसे वह लाकर छत्ते में भर देगी। वह यह नहीं कहती कि छत्ते में कोई खास छेद मेरा है। सारे गिरोह के फायदे, के लिए वह जमा करती है। जब एक मक्खी शहद लाती है, तो छत्ते में लाकर उसे रख देती है और सब मक्खियों के इस्तेमाल के लिए छोड़ देती है। वह

अपने निजी खर्च के लिए नहीं, बल्कि सबके खर्च के लिए पैदा करती है। सारी मक्खियाँ एक खानदान की तरह रहती हैं। इसमें हक के जजबे के बजाय फर्ज का जजबा ज्यादा तगड़ा है। पैदावार खर्च से ज्यादा है और बचत सबके काम आती है।

इसके बाद पाँचवीं सूरत। हमने ऊपर घोंसले बनानेवाली चिड़िया की चर्चा की है। मान लीजिये, उसको एक बच्चा हुआ। सुबह को वह निकल पड़ी, अनाज के दाने वगैरह जो मिले, सो जमा कर लाती है और लाकर अपने बच्चे को खिलाती है। वह यह नहीं कहती कि चीज मेरी लायी हुई है, इसलिए उसे निगल जाने का मुझे ही हक है। वह उसे बच्चे के पास ले जाकर उसे खुद खिलाती है। क्या वह यह सोचती है कि बड़ी होने पर यह मुनिया मुझ बूढ़ी माँ को खिलायेगी? नहीं, ऐसी कोई चीज नहीं है। वह जो देती है, उसे वापस पाने का कोई ख्याल उसे नहीं होता। वह यह सब अपने फर्ज की बिना पर करतीं है। इसको हम माँ-अर्थनीति या सेवा-अर्थनीति कह सकते हैं।

आर्थिक सरगर्मियों के विचार को हम इन पाँच तरह की सूरतों से जाहिर कर सकते हैं—आदमखोर, लुटेरा, कारोबारी, गिरोहबन्द और सेवा। इन सबके उसूल अलग-अलग हैं। आदमखोरों में खुदखुरी और हक का बोलबाला है और बिना पैदा किये खर्च किया जाता है। दूसरी सूरत में भी यही बात है, पह हिंसा कम है। तीसरी में पैदावार और खर्च दोनों हैं। चौथी—गिरोहबन्दी—में खर्च कम, पैदावार ज्यादा और पाँचवीं में सेवा ही सेवा, जिसमें इनाम का कोई ख्याल ही नहीं है।

इन्सानी समाज में भी पैदावार और खर्च के यही तरीके हमें मिलते हैं। **चोर और डाकू समाज के आदमखोर हैं,** क्योंकि वे आदमियों को मार डालते हैं और दौलत पैदा करने के लिए कुछ काम किये बिना जो चाहते हैं, पा जाते हैं। सड़क पर कोई बच्चा जा रहा है, एक आदमी उधर से गुजरा, उसका सिर काटा और बदन से जेवर उतारकर चम्पत। यह समाज के आदमखोर हैं।

लुटेरे—फर्ज कीजिये, आप रेल का टिकट खरीदने गये। आप कतार लगाकर खड़े हैं। पीछे से कोई आया और—आप तो सामने खिड़की की तरफ देख रहे हैं—उसने चुपके से आपकी जेब में से बटुआ निकाला और

नौ दो ग्यारह। यह लुटेरों का काम है। लुटेरा इसी फिराक में रहता है कि उसकी हवाभर भी किसी को न लगे। लुटेरेपन की अच्छी मिसाल पाकिटमारों से दी जा सकती है।

कारोबारी सूरतवालों में अच्छी मिसाल किसानों की है। वे जमीन जोतते हैं, बीज बोते हैं, सख्त मेहनत करते और अपनी मेहनत का खाते हैं। इन्सान जब हैवानियत के दायरे से निकला, तो उसने खेती पहले पकड़ी। इस हालत में वह अपने हक और फर्ज दोनों समझता है और दोनों का ताल रहता है। इसी को हम सभ्यता का सबेरा कह सकते हैं। पहलेवाली दोनों जंगली सूरतें हैं। कारोबारी सूरत होने पर सभ्यता शुरू होती है।

गिरोहबन्द अर्थनीति की मिसाल है—मिला-जुला हिन्दू परिवार। एक भाई केवल अपने लिए ही नहीं, सारे खानदान के लिए काम करता है। एक व्यक्ति काम तो करता है, लेकिन वह यह नहीं सोचता कि चूँकि मैंने खुद काम किया है, इसलिए कमाई या दौलत मेरी है। इसमें एकता का भाव रहता है और एक गिरोह के लिए काम करने का जजबा रहता है।

सेवा-अर्थनीति—इसकी सबसे अच्छी मिसाल माँ है। माँ बच्चे के लिए काम करती है, लेकिन वह किसी इनाम की तमन्ना नहीं करती—सेवा ही उसका इनाम है।

इसी तरह से यह भेद हमें अपने जीवन में, सरकार में, राष्ट्रों वगैरह में मिलते हैं।

जीवन के आधार तरह-तरह के होते हैं। वह जीवन जिसका आधार दूसरे लोगों की जान ले लेना या उनके हकों को मारना हो—जैसा साम्राज्यशाही में होता है—जंगली अर्थनीति है। इस नीति से दूसरे मुल्क दबा लिये जाते हैं और ताकतवर मुल्क या दल कमजोरों के ऊपर बैठकर उन्हें चूसा करते हैं। यह आदमखोर अर्थनीति है।

(1) राजकाजी तौर पर हिन्दुस्तान अंग्रेजों का गुलाम था। यह आदमखोर अर्थनीति की मिसाल है।

(2) दूसरों पर आर्थिक दबाव डालना—अमेरिका का जगह-जगह दखल देना लुटेरी अर्थनीति की मिसाल है।

(3) कारोबारी अर्थनीति—पुराने जमाने में हमारे देश में जो खेती-अर्थनीति पर अमल किया गया है, वह कारोबारी अर्थ-नीति की मिसाल है। यह स्वावलम्बी अर्थनीति है।

(4) गिरोहबन्द अर्थनीति—इस अर्थनीति में बहुत हद तक सोवियत रूस और नाजी जर्मनी आ जाते हैं।

(5) इतिहास में हमको सेवा-अर्थनीति की मिसाल नहीं मिलती। मगर गांधीजी की कोशिश उसी लक्ष्य की ओर बढ़ने की थी।

ये पाँचों सूरतें हमारे निज के रोजाना के काम में भी मिलती हैं। दूसरों पर हँसना आसान होता है, लेकिन जब हम अपने गरेबान में मुँह डालकर देखें, तो पता चलेगा कि हम खुद कभी तो चीते की तरह व्यवहार करते हैं, कभी बन्दर की तरह, कभी कैसे, कभी कैसे। जब हम फूहड़पन से खाते हैं और तरह-तरह की चीजें फेंकते जाते हैं, तब हम चीते की जात में आते हैं। हर रोज रात को हमें चाहिए कि अपने से पूछें कि दिन में कितनी बार हमने चीते की तरह बर्ताव किया, कितनी बार कैसा। और अगर जवाब में यह मालूम हो कि हमारा झुकाव लगातार माँ वाली सेवा-अर्थनीति की तरफ बढ़ रहा है, तो यह समझना चाहिए कि हम सभ्यता की तरफ जा रहे हैं, वरना यह समझना चाहिए कि हम जंगलीपन की तरफ ही बढ़ रहे हैं।

हमने जो यह खुलासा दिया है, कोई नयी चीज नहीं है, क्योंकि समाज के हिन्दू ढाँचे में यह चीज मिलती ही है। इसमें म्लेच्छ, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण हुआ करते हैं। अगर आपकी तबीयत अपने भाई-बन्दों की मदद करने की होती है, फिर चाहे आप जन्म से म्लेच्छ ही क्यों न हों, आप ब्राह्मण गिरोह के ठहराये जायेंगे। अगर आप जन्म के ब्राह्मण हैं और सरकारी नौकरी कर रहे हैं, तो जो मोटी तलब आपको मिल रही है, उसकी वजह से आप असल में म्लेच्छ बन जाते हैं। म्लेच्छ चीतेवाली हालत पर हैं, शूद्र लुटेरेवाली पर, जो वैश्य ईमान से काम करते हैं, कारोबारीवाली पर। लेकिन जो वैश्य गलत नाप-तोल करते हैं, वे चीतेवाली हालत के हैं। मिलवाले भी चीते जैसे हैं। अगर हम अपने समाज को इन पाँच मोटे-मोटे भेदों में बाँट लें, जिनका आधार काम से है, न कि जन्म से, तो यह बहुत मुमकिन है कि एक म्लेच्छ समाज की सेवा करते-करते ब्राह्मण बन जायें। गाँधीजी की योजना यही थी कि इन्सान को कदम-कदम पर म्लेच्छवाली हालत से हटाकर ब्राह्मणवाली हालत पर ले जायें। एक आदमी की नैतिक और जिस्मानी तरक्की जितनी ज्यादा होगी, उसी लिहाज से वह इस तरफ बढ़ेगा। यही तालीम का मकसद है। जब हम ऐसी हालत पर पहुँच जायें कि हक रह ही न जाये और उनकी जगह फर्जभर हो, तब हम ब्राह्मणपन या सेवा-अर्थनीति पर पहुँचते हैं।

कुदरती साधन

अब हम कुदरती साधनों के इस्तेमाल के सवाल पर आते हैं। इन साधनों के बारे में भी यह बात सही है कि जैसे-जैसे हम चीता-अर्थनीति से सेवा-अर्थनीति की तरफ बढ़ते जाते हैं, हिंसा की मात्रा कम होती जाती है। यही वह तरीका है, जिससे अहिंसा को बढ़ाया जा सकता है।

कुदरती साधनों को हम दो हिस्सों में बाँट सकते हैं—एक तो वह, जो कभी खत्म ही नहीं होते, जैसे नदी या दरिया में पानी का बहाव। नदी में से बाल्टीभर पानी निकाल लेने पर नदी की सतह वैसी की वैसी ही रहती है। हिसाब की नजर से और बहुत बारीकी से देखें, तो सतह जरूर कुछ कम होती है, लेकिन अमली तौर पर कम नहीं होती। वह जो गढ़ा बनता है, उसकी जगह भरने के लिए फौरन ही कुछ पानी आ जाता है। लेकिन जब एक गिलास में से थोड़ा सा पानी पीते हैं, तो सतह गिर जाती है। ऐसा क्यों? पहली सूरत में पूर्ति की किसी कदर कोई हद नहीं है और दूसरी सूरत में पूर्ति की हद बनी हुई है। इनको हम दरियाई अर्थनीति और तालाबी अर्थ-नीति के नाम से पुकार सकते हैं।

इस तरह से हम सारी गांधी-अर्थनीति का अन्दाज इस चीज से लगा सकते हैं कि अपने कामों में हम तालाबी अर्थनीति बरतते हैं या दरियाई। और फिर यह देखें कि इसमें हिंसा या अहिंसा कितनी पैदा हो रही है या पैदा हो सकती है।

जब चीजों की पूर्ति कम है, तो उसको लेने की होड़ में हिंसा पैदा होगी। इसलिए अगर हमारा आर्थिक संगठन ऐसा है कि तालाबी अर्थनीतिवाले साधनों का ज्यादा सहारा लेना पड़ता है, तो हिंसा ही बढ़ेगी। लोहा ज्यादा तादाद में नहीं मिलता है। यह तालाबी अर्थनीति में आता है। अगर हम समाज में अहिंसा फैलाना चाहते हैं, तो लोहे का इस्तेमाल कम होना चाहिए और लकड़ी का ज्यादा, जो दरियाई अर्थनीति में आती है। पेट्रोल तालाबी अर्थनीति में है। जैसे-जैसे यह कम होता जाता है, इसके इस्तेमाल से झगड़े पैदा होते जाते हैं। आज हमारे समाज में जो हिंसा बढ़ रही है, उसकी वजह यही है, कि देश के देश दरियाई अर्थनीति को छोड़कर तालाबी अर्थनीति की तरफ जा रहे हैं। पेट्रोल की तरह कोयला भी तालाबी अर्थनीति में है। घोड़ा, बैल और गाय दरियाई अर्थनीति में आते हैं। जब इंग्लैण्ड घोड़ा अर्थनीति पर चलता था, तो वहाँ के लोग घोड़े से हल चलाते थे, घोड़े से

ढुलाई का काम करते थे। उस वक्त वहाँ पर हिंसा आज के मुकाबले बहुत कम थी। औद्योगिक क्रान्ति के पहले अंग्रेज लोग सिर्फ रसोई बनाने के लिए कोयला इस्तेमाल करते थे। भाप की ताकत के आने पर कोयला इंग्लैण्ड की अर्थनीति का सहारा बन गया और इस तरह इंग्लैण्ड ने दरियाई अर्थनीति की जगह तालाबी अर्थनीति अपनानी शुरू कर दी। इसी का नतीजा है कि डेढ़ सौ बरसों से इंग्लैण्ड में हिंसा बढ़ रही है।

हिन्दुस्तान में गाय को एक पवित्र जानवर समझा गया है, क्योंकि वह हमारी अर्थनीति का केन्द्र है। इसी वजह से उसे बढ़ा-चढ़ाकर इतनी ऊँची पदवी दी गयी है। ट्रैक्टर की खेती तालाबी अर्थनीति की श्रेणी में आती है। यह लोहे और इस्पात से बनता है और इसे चलाने के लिए पेट्रोल या तेल की जरूरत पड़ती है। चीजों को पैदा करने के लिए जो भी हथियार या औजार हम इस्तेमाल करेंगे, उनसे आखिर में हिंसा या अहिंसा उसी मात्रा में पैदा होगी, जिस मात्रा में हम तालाबी या दरियाई अर्थनीति को अपनायेंगे।

चरखा दरियाई अर्थनीति में आता है, लेकिन कपड़े की मिल तालाबी अर्थनीति में।

गरमीवाली बिजली का इस्तेमाल तो सोलह आने तालाबी अर्थनीति है। पानीवाली बिजली भी ज्यादातर तालाबी अर्थनीति है, उसमें पहिया भर पानी की ताकत से चलता है। पानीवाली बिजली की योजना में ज्यादातर खर्च सरंजाम व मशीनरी में बैठता है और इसलिए वह बहुत हद तक तालाबी अर्थनीति में है। इस तरह कुल मिलाकर देखें, तो यही कहना पड़ेगा कि बिजली के इस्तेमाल को तालाबी अर्थनीति में शामिल करना चाहिए।

छप्पर या फूस की छतवाली मिट्टी की झोपड़ी दरियाई अर्थनीति में है। सीमेंट और पक्के माल से बनी इमारतें तालाबी अर्थ नीति में आती हैं। दरियाई अर्थनीति स्थायी चीज है, क्योंकि इसमें कोई होड़ नहीं मचती, जिससे हिंसा या मारकाट पैदा हो, लेकिन तालाबी अर्थनीति स्थायी नहीं है।

खेती में काम आनेवाला हमारा मामूली हल दरियाई अर्थ नीति में है। माना कि इसमें थोड़ा-सा लोहा लगता है, लेकिन लोहे का इस्तेमाल हम उसी मिकदार में कर सकते हैं, जिसमें वह कुदरत से मिलता है। मिट्टी के झोंपड़ों में लोहे की कीलें लगा सकते हैं। हमारी मन्शा सिर्फ यह है कि तालाबी अर्थनीति का इस्तेमाल जिस तादाद में इन्तहाई दरजे को बढ़ जाता है, उसी हिसाब से समाज में हिंसा भी बढ़ जाती है।

अपने समाज का ढाँचा खड़ा करने में हम दरियाई अर्थनीति की जितनी ज्यादा मदद लेंगे, हिंसा उतनी ही कम होगी। लेकिन तालाबी अर्थनीति का जितना ज्यादा सहारा लेंगे, हिंसा उतनी ही बढ़ेगी।

पैदावार

जरूरतें दो तरह की होती हैं—बुनियादी (असली) और ऊपरी (मसनूई)। बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए जितनी ज्यादा चीजें पैदा की जायेंगी, हिंसा उतनी ही काम होगी। ऐश-आराम की यानी ऊपरी जरूरत की जितनी ज्यादा चीजें पैदा की जायेंगी, हिंसा उतनी ही बढ़ेगी। अगर एक तरफ लोगों को भूखों मारें और दूसरी तरफ ऐश-आराम का सामान तैयार करते रहें, तो हिंसा पैदा होगी। अनाज जैसी बुनियादी जरूरत की चीज की जगह तम्बाकू जैसी ऊपरी जरूरत की चीज पैदा करने का यह लाजिमी नतीजा होगा कि हिंसा का पलड़ा भारी पड़े। आर्थिक संगठन के रूप को देखकर यह आम तौर से बताया जा सकता है कि उस संगठन से हिंसा पैदा होगी या उससे लोगों को अमन-शान्ति और खुशहाली मिलेगी। हम तो यह चाहते हैं कि सत्य और अहिंसा की तरफ ले जानेवाले उसूलों पर (गांधी अर्थनीति में नैतिक बातों का लिहाज करना पड़ेगा, यह हम मानकर चल रहे हैं) तेजी के साथ अमल किया जाये। बुनियादी जरूरत की चीजें ज्यादा और ऐश-आराम की कम पैदा करने से अहिंसा के फैलने की संभावना ज्यादा है। अगर हमें अपने समाज के अन्दर सत्य और अहिंसा फैला देना है, तो इन उसूलों का हमें खयाल रखना होगा और इन्हीं की बिना पर काम करना होगा।

पैदावार के तरीके

चीजें पैदा करने के दो जुदा-जुदा तरीके होते हैं। हम इन दो तरीकों में से किसी एक से उन्हें पैदा कर सकते हैं। जैसा तरीका अपनायेंगे, उसी लिहाज से उसूल भी जुदा-जुदा होंगे। हम पहले पैदावार पर विचार करेंगे और खर्च पर बाद में करेंगे। मान लीजिये, माँ अपने बच्चों के लिए कुछ बना रही है, तो वह कैसे क्या करती है? उसका मकसद क्या है और उस चीज के तैयार करने का उसका तरीका किसी दूसरे तरीके से कितना जुदा है? फर्ज कीजिये, उसे हलुवा बनाना है। तो वह कैसे क्या करेगी? समझदार माँ यह करेगी कि अच्छा गेहूँ लेकर उसे खुद चक्की पर बारीक पीस लेगी, ताकि आटा समूचा बना रहे, वह न उस पर पॉलिश करेगी और न कोई

दूसरा पोषण तत्त्व इसमें से निकालेगी। दूसरे मानों में, जो कुछ भी गेहूँ में है, उसे वह सुरक्षित रखेगी। फिर अगर उसके पास अपनी गाय है, तो उसके दूध से बनाये दही को खुद मथकर मक्खन या घी बनायेगी। चक्की चलाना मुश्किल काम है और घी बनाना एक मुसीबत। वह बाजार से वनस्पति या सस्ता घी क्यों नहीं खरीद लेती? वह यह सब तकलीफ इस वजह से बर्दाश्त करती है कि उसका मकसद है अपने बच्चों की परवरिश करना। उसे अपने बच्चों की भलाई में बहुत जबरदस्त दिलचस्पी है। जब वह यह देखती है कि मेरे बच्चों को इससे फायदा पहुँचता है, तो वह सारी मेहनत पूरी तरह वसूल समझती है। वह यह सब फर्ज और प्रेम के भाव से करती है। अगर वह होशियार माँ है, तो खुराक के बारे में कुछ जानकारी हासिल कर लेगी और यह समझ लेगी कि इन चीजों को कैसे तैयार किया जाये, जिससे उनकी खुराक-मान बरबाद न हो। उसे यह सन्तोष रहा है कि बच्चों के लिए जो कुछ ज्यादा-से ज्यादा मैं कर सकती थी, मैंने किया। इसका नाम है इस्तेमाल की खातिर पैदावार।

हलुवा दूसरे लोग भी पकाते हैं, सिर्फ माँ ने इस काम को करने का एकाधिकार थोड़े ही लिया है। हलवाई भी यह काम करता है। उसका मकसद क्या होता है? यह जरूर है कि उसका मकसद यह है कि कुछ चीज वह पैदा करे; लेकिन उसका असली मकसद उन चीजों का पैदा करना नहीं होता, बल्कि यह कि ग्राहक की जेब में जो पैसा है, वह मेरी जेब में आ जाय और इस चालान की कामयाबी के लिए वह आसान से आसान रास्ता ढूँढ़ता है। इसलिए वह सब तरह की हरकतें करेगा। जितना कम खर्च हो, उतना ही उसका फायदा। वह इस बात का पता लगायेगा कि सस्ता आटा कहाँ मिलेगा, चाहे वह घुनों के खाये गेहूँ का ही क्यों न हो और जो कम-से-कम दाम पर मशीन पर पीसा गया हो। वह पता लगायेगा कि सस्ती-से-सस्ती किस्म का तेल या नाम का घी या कुछ दूसरी मिलावट की चीजें कहाँ मिलेंगी। अगर हलुवे की सुगन्ध ठीक नहीं है, तो कुछ गुलाबजल छिड़क लेता है या कोई रंग मिला देता है, ताकि वह देखने में खुशनुमा मालूम हो। उसके गंध और रंग मिला देने से ऐसी खुशबू आने लगती है कि दूसरी गंधें उड़ जाती हैं। इस हलुवे को जो खायेगा, उसे दस्त आये बिना नहीं रहेंगे। लेकिन हलवाई को इससे क्या मतलब? शायद इस तरह कुछ पैसा ग्राहक की गाँठ से डॉक्टर के पास भी पहुँच जाये। इसका नाम है व्यापार के लिए कारखाने चलाना या पैदावार करना।

यह कुदरती बात है कि हर काम की छाप उसके करनेवाले और उसकी शख्सियत पर पड़ती है। जो आदमी जहाँ तक तरक्की करता है, वह अपने ही काम से करता है। महज रेडियो का बटन घुमा देने से कोई संगीत नहीं सीख सकता। इसके लिए तो उसे बैठकर किसी बाजे पर अभ्यास करना पड़ेगा, इतना अभ्यास करना पड़ेगा कि उसके पड़ोसी भी ऊब जायें। उँगलियों के पुट्ठे और आँख व कान की नसों को, सबको एक तार में काम करना पड़ेगा। इसी अभ्यास से कोई संगीतज्ञ बनता है, केवल रेडियो सुनने से नहीं।

हर काम का अपना जवाबी असर या अमल होता है। इस तरह हलुवा पकाने के इन दो तरीकों का भी जवाबी असर होता है। इसका असर माँ पर क्या पड़ता है? खुराक के बारे में उसकी जबरदस्त जानकारी का नतीजा यह होगा कि वह जिस्म और उसकी जरूरतों के बारे में खूब अच्छी तरह सब समझती-बूझती होगी और वह जो यह करती है, तो अपने बच्चों के प्यार की खातिर करती है और इसी वजह से वह एक अच्छी माँ या औरत बनती है।

जहाँ तक हलवाई की बात है, वह कम-से-कम देना और ज्यादा-से-ज्यादा लेना चाहता है। दूसरे लफ्जों में इसे डकैती कहते हैं। जो आदमी जितना ज्यादा मुनाफा कमा ले, उतना ही ज्यादा कामयाब व्यापारी या पूँजीपति समझा जाता है। बढ़ते-बढ़ते यह चीज इस हद को पहुँचती है कि आदमी को खत्म ही कर डाला और जो कुछ उसके पास था, उसे खसोटकर रुपये पर सोलह आने बचा लिये। यह अच्छी तरह किया जा सकता है। पेशे के तौर पर करने से यह डकैती की शक्ल बन जाती है। यह वही जहनियत है, जो हलुवा बनानेवाले हलवाई में होती है, जिससे लालच और गैर-जिम्मेदारी बढ़ती है। नतीजा यह होता है कि समाज में आदमखोर लोग पैदा होते हैं, जो एक-दूसरे को लूटा करते हैं। बड़े या कौमी पैमाने पर जब यह चीज की जाती है, तो विश्वव्यापी लड़ाई खड़ी हो जाती है। मिठाईवाले अर्थशास्त्र से झूठी शान व नाम और हिंसा पैदा होती है, लेकिन पैदावार के माँ वाले तरीके उसके अन्दर प्रेम व सचाई बढ़ाते हैं, हालाँकि मेहनत ज्यादा पड़ती है।

एक कारखानेवाला जहाँ व्यापार के लिए पैदा करता है, वहाँ माँ घर के खर्च के लिए पैदा करती है। माँ के काम का आधार स्वावलम्बी अर्थनीति है। लेकिन जब हम महाजनी अर्थनीति पर चलते हैं, तो हम हलवाई की तरह व्यवहार करने लग जाते हैं और आखिर में डकैत बन जाते हैं।

महाजनी और व्यापार

अगर बाजार में ऐसी चीजें पहुँचें, जिनकी पूर्ति कम हो, तो लोगों में खामखा असन्तोष पैदा होगा और आगे चलकर हिंसा फैलेगी। सच्चा व्यापार तो बेशी चीजों में ही किया जा सकता है।

मान लीजिये, हमारे पास कुछ लड्डू हैं, जो हमने एक लड़के को दे दिये। वह उन्हें खाने लगता है। पहला लड्डू खाने पर उसे कुछ सन्तोष मिलता है, फिर दूसरा खाया, फिर तीसरा, लेकिन जब चौथा खाया, तो तबीयत भारी लगती है। अब उसे प्यास महसूस हुई। उस वक्त कोई दूसरा लड़का पानी का एक गिलास लेकर आ पहुँचा। एक-दो लड्डू अभी बाकी हैं और पहले लड़के को, जिसकी लड्डू की भूख मिट चुकी है, यह नहीं मालूम कि इनका क्या करूँ। तब वह दूसरे लड़के से कहता है, "मुझे पानी दो और मैं तुम्हें लड्डू दूँगा।" अब अगर दोनों अदला-बदली कर लें, तो दोनों को फायदा। प्यासे को पानी मिल गया, भूखे को लड्डू। यह बेशी चीजों में अदल-बदल या महाजनी की मिसाल है, जिससे दोनों का भला होता है। असली सन्तोष तभी होता है, जब वह दोनों तरफवालों को महसूस हो।

इसके खिलाफ अगर पानी का एक बरतन हो और बहुत से आदमी पीना चाहें, तो पूरा नहीं पड़ेगा और इसके लिए झगड़ा मचेगा! इस हबड़-दबड़ में कुछ पानी भी गिर जायगा और किसी को भी सन्तोष नहीं पहुँचेगा।

पैसा या लेने-देन

पुराने समय से ही चीजों की अदला-बदली के लिए कुछ निशान इस्तेमाल किये जाते हैं। लेकिन अब, जब जरूरतें बेइन्तहां बढ़ गयी हैं, चीजों का मान छिपाने के लिए पैसे का इस्तेमाल किया जाता है। इससे सच्चे इन्सानी मान का पता नहीं चलता। अगर हम एक सेर दूध के बारह आने दें, तो इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि बेचनेवाले को एक सेर दूध के बराबर ताकत देनेवाली चीज खाने को मिल जायेगी। उसे लालच होगी कि इसके बजाय अपने बच्चों को चाय ही पिला दूँ और बाकी पैसा बचाकर रख लूँ। वह यह भी कर सकता है कि बछड़े के हिस्से का दूध उसे न देकर, गाय का कुल दूध दुह ले और अपने बच्चों तक को न पिलाकर उसे बेच दे। ऐसी सूरत अक्सर तभी पैदा होती है, जब पैसे की शक्ल में दाम चढ़ जाते हैं। इसमें एक लाभ होता है कि एक ज्यादा कीमती चीज को एक कम कीमती या नुकसानदेह चीज के बदले में दे दिया जाता है। इसलिए पैसा धोखा देता है और हिंसा पैदा करता है।

यह पैसे का पैदा किया लोभ ही है, जो लोग जमीन पर अनाज की खेती न करके मुनाफेवाली फसलें जैसे तम्बाकू आदि उगाते हैं। पैसे के जरिये जो नुकसान पहुँचता है, आम आदमी को उसका इल्म नहीं होता।

आज व्यापार की मंशा यह बन गयी है कि आदमी को बुनियादी जरूरत की चीजें न देकर उसका ध्यान, पैसे के जोर से, ऐश-आराम की चीजों पर लाया जाय। मालदार आदमी आजादी से पैसा फेंक सकते हैं और इसलिए व्यापारियों व कारखानेवालों को उनकी मांग पूरी करने की पड़ी रहती है, बजाय इसके कि गरीबों की जरूरत पूरी करें। इस दूसरे धन्धे में ज्यादा बचत भी नहीं है। धान की खेती से मुश्किल से दाम के दाम वसूल होंगे; लेकिन तेल, साबुन के कारखाने से सब चाँदी ही चाँदी है। इस तरह इन्सानी पहलू से देखने पर पता चलता है कि पैसे के जरिये से आर्थिक चहल-पहल समाज-विरोधी ढर्रे पर आ गयी। यह और इस किस्म की दूसरी बुराइयाँ हिंसा और बेईमानी से भरी हैं। लेन-देन में पैसे के बजाय चीजों की अदला-बदली से ऐसा खतरा बहुत हद तक कम हो जायेगा।

सहयोग

यहाँ हमारा मतलब सहयोग के कानूनी संगठन से न होकर इन्सानी नातेदारी से है। सहयोग से लोगों के अन्दर आपसी भाईचारा या खुशी-आराम बढ़ता है। अपने निज के सुख के लिए समाज का हर आदमी हर दूसरे आदमी की खुशी-आराम पर निर्भर है। अगर एक कुम्हार बर्तन बनाता है और पड़ोस का मोची अल्मुनियम के बर्तन इस्तेमाल करता है, तो कुम्हार कहाँ से उस मोची के बनाये जूते खरीद सकेगा? इसी तरह अगर कुम्हार की इतनी औकात हो कि वह मशीन के बने जूते इस्तेमाल करे, तो मोची का क्या हाल होगा? नतीजा यह होगा कि कुछ अरसे के बाद दोनों दस्तकार मिट जायँगे। इसलिए हमारा रोज के धंधे का ढर्रा इस तरह बँधना चाहिए कि एक-दूसरे का भला हो। ऐसा सहयोग ही हमारे गाँववालों को माली मुसीबतों से बचा सकता है।

आर्थिक सहयोग से गाँववालों का ताना-बाना ऐसा सध जाता है कि उनमें एका पैदा होता है। बिना इस एके के—जानदार एके के—मिली-जुली जिन्दगी बिखर जायेगी और इस तरह के भेद-भाव व झगड़े खड़े हो जायेंगे, जैसा हम आज देख रहे हैं। ऐसे बिखरे हुए टुकड़े बाहरवालों को दावत देते हैं कि वह आकर अपना उल्लू सीधा करें। ऐसे एके की खातिर कामयाबी से

कुछ कर सकने के लिए हमें अपने पर शिस्त और काबू चाहिए। एक गाँव में अमेरिका की बनी चीजें इस्तेमाल होने के माने हैं कि ताना तो वहीं का है, मगर बाना अमेरिकी। इससे वह बानक बन ही नहीं सकता कि गाँव बचा रहे और आखिर में आकर वह अमेरिका के आर्थिक चंगुल में जरूर फँस जायेगा। कोई फौजी या हवाई बेड़े इस घटना को नहीं रोक सकेंगे। बाहर के हमले के खिलाफ अहिंसा से हिफाजत करने के लिए यह जरूरी है कि आपके यहाँ एक सच्चे आर्थिक सहयोग की इकाई हो। इसी से वह जुड़ी हुई ताकत पैदा हो सकेगी, जिससे किसी कौम में जान आती है और तभी दुनिया की शान्ति के लिए आप कुछ अपनी तरफ से कर सकेंगे। स्वावलम्बन के प्रोग्राम में बुनियादी ख्याल यही है।

रहन-सहन का दर्जा

अभी हमने जो कारण बताये हैं, उनसे यह साफ हो जाता है कि हमारी रोज की जिन्दगी इस तरह सिलसिले में लायी जाय कि हमें अपनी शाख्सियत को जाहिर करने का मौका मिल सके। हम क्या खाते हैं, कैसे क्या पहनते हैं, कैसा जीवन बिताते हैं—इन सबका असर हमारे जीवन पर तो होता ही है, लेकिन इन्सानियत के भविष्य पर भी होता है। जिस तरह हर आदमी अपने को चीजों के उस नाप से जाहिर करता है, जिसे वह इस्तेमाल करता है, उसी तरह उसके रहने-सहने के तरीके से उसकी शख्सियत जाहिर हो जाती है। इसके लिए कामिल नमूने ऐसे होने चाहिए, जिन पर लोग डटकर चल सकें और यह नमूने या दर्जे जो हम बनायें, तो बाहर की बातों का अच्छी तरह ख्याल करके बनायें। यह ध्यान में रहे कि हर शख्स को पूरे तौर पर ऐसा मौका मिल सके, जिससे उसकी सब तरह की शक्तियों का और उसकी शख्सियत का विकास हो। रहन-सहन के दर्जे का नमूना इस तरह का न हो कि महज जिस्म की और दूसरी ऊपरी जरूरतों से उसका ताल्लुक हो, लेकिन उन अनगिनत चीजों से भी, जिनसे जीवन में मिठास और सुख पैदा होता है और जो जीवन को केवल जिन्दा रहने की तह से ऊँचा उठाती हैं। यह तो मानी हुई बात है कि इस नाप का सम्बन्ध कुदरती तौर पर खुराक से होगा, जिसकी जरूरत इस वजह से रहती है कि मुनासिब दवाओं की या डॉक्टरी मदद के साथ इन्सान की जिस्मानी ताकत एक दर्जे पर बनी रहे और गिरने न पाये, कपड़े से होगा, जो महज बदन को ढकेगा ही नहीं; बल्कि जिसमें कला और खूबसूरती को जाहिर करने की गुञ्जाइश भी रहेगी;

तालीम से होगा, जो जीवन को ज्यादा जोरदार और खुशुनुमा बनायेगी। साथ ही साथ मन के मुताबिक काम पाने से उसकी पैदाइशी शक्तियों का विकास होगा। इस काम से आदमी के पैदाकारी झुकावों की तरक्की के लिए रास्ते खुल जायेंगे। इसी तरह से रहन-सहन के उस दर्जे का सम्बन्ध दूसरी मिली-जुली सहूलियतों से होगा, जिनसे व्यक्ति और समाज दोनों की तरक्की में मदद मिलती है।

मिसाल के तौर पर खाना खाने की बात लें। खाना आप पच्छिमी ढंग से खाइये या देशी ढंग से, खुराक के पहलु से दोनों में बहुत कम फर्क है। देशी ढंग में खसूसियत यह है कि सस्तेपन के साथ सफाई भी मिली हुई है और खिलाने के दौरान में हरएक को पूरी गुञ्जाइश है कि सेवा की जो कला दिखलाना चाहे, दिखलाये। ताजे हरे पत्ते पर परसे हुए खाने के मुकाबले किस चीज में ज्यादा मजा आ सकता है? लसदार चावल या चपाती, बसंती दाल, सफेद दही, लाल चटनी, काली मिर्च, ताजी तरकारियों का रंग-बिरंगा सलाद, लाल टमाटर वगैरह, इनको देखते ही तबीयत भर जाती है! जब खाना खा चुके और पत्ते हटा दिये, तब सिर्फ फर्श धोना रहता है। आनेवाले लोग—जो उँगलियों से खाते हैं—खा चुकने पर बिला नागा मुँह धोते और कुल्ला कर लेते हैं। यह एक बहुत मुनासिब और सफाईकार आदत है। लेकिन जो चम्मच-काँटों से खाते हैं, उन्होंने यह मुफीद रिवाज छोड़ दिया है। उन्होंने बहुत किया, तो जरा-से-पानी में अपने पोरवे भिंगो लिये, मुँह-होंठ कुछ गीले किये और फिर पोंछ डाला। इस बहुत पेंचीदा पच्छिमी ढंग में बड़ी या ऊँची खासियत की क्या बात है? जिन्दगी के पेंचीदा ढंग से खर्चा बढ़ जाता है और सफाई या कला के लिहाज से उतना फायदा नहीं होता। इसलिए सही शिनाख्त हमें करनी है, तो पच्छिमी ढंग को 'पेंचीदा' कहना चाहिए और अपनेवाले को 'सादा' न कि 'ऊँचा' और 'नीचा'।

अमेरिका के अंदर तो रहन-सहन के झूठे-मूठे विचारों का प्रचार होने से घरेलू जीवन तेजी के साथ उखड़ रहा है। एक मियाँ-बीबी एक-दो कमरेवाले किसी मकान में 'मेहनत-बचाऊ तरकीबों' से रह लेते हैं। सुबह होने पर मियाँ काम को निकल जायेंगे और बीबी भी। राह में चलते-चलते किसी कॉफे में नाश्ता कर लिया और दोपहर का खाना फैक्ट्री के किसी रेस्टोरेण्ट या ढाबे में हो गया। फिर दोनों जने शाम को मिले, तो किसी होटल में खाना खा लिया और अगर उन दोनों की आमदनी इतनी काफी है कि एक मोटर रख सकते हैं, तो घूमने निकल गये, सिनेमा देखा और रात को

कमरे में आकर रेडियो सुनने लगे। घर सँभालने, रोटी पकाने या इस तरह के दूसरे किसी काम से उन्हें कोई वास्ता नहीं। वे न यह जहमत उठायेंगे कि बच्चे पालें और न उनके रहन-सहन का 'ऊँचा' तरीका इसकी इजाजत देगा। यह वह लोग हैं, जो कारखानेवालों की खातिर गुलाम बने हुए हैं। कारखानेवाले लोग ही 'ऊँचा' नाप कायम करते हैं, ताकि कारखानों के लिए 'हाथ' जल्दी से ही मिल जायँ।

रहन-सहन का जो दर्जा हम मंजूर करें, उसमें आदमी की शक्तियों के विकास के मौके मिलने चाहिए और उसकी अपनी शख्सियत को जाहिर करने के रास्ते खुलने चाहिए। इसके अलावा उसके जरिये से समाज के जुदा-जुदा मेम्बरों में एक ताल्लुक या कड़ी-सी बन जानी चाहिए, ताकि जो ज्यादा आसूदा लोग हैं, वह कम आसूदा अभागों की मदद कर सकें।

इस तरह से करने में, हमारी हर जरूरत का मुकामी पैदावार से और हमारे चारों तरफ के लोगों के जीवन से ऐसा सम्बन्ध हो जायगा, जिससे एक मजबूत गठी हुई आर्थिक इकाई बन जायेगी। तब जो बढ़ोतरी होगी। वह भली-चंगी होगी, जिसे हिंसा बर्बाद नहीं कर सकेगी और उससे पायदारी पैदा होगी।

अक्सर ऐसा होता है कि हम जीवन के नाप को पैसे और सामान की शक्ल में बयान करते हैं और इसका कोई लिहाज ही नहीं किया जाता कि जो हमारे आस-पास के लोग हैं, उनकी जिन्दगी कैसी है। ऐसे नाप बनावटी होते हैं और इस वजह से पायेदार नहीं होते। क्योंकि वह ऊपर से लादे जाते हैं, दिखावटी होते हैं और उनकी जड़ें लोगों के जीवन से ताल्लुक नहीं रखतीं, इसलिए वह टिक नहीं पाते हैं। अगर हम पैदावार का माद्दा और खर्च बढ़ा दें—और ऐसे बढ़ायें कि वह मुकामी बाजार में पूरा हो सके—तो रहन-सहन आप-से-आप ऊँचा उठ जायेगा। इस तरह कुदरती तौर पर रहन-सहन का दर्जा बनने से जनता की कलचर और काबलियत रौशन होगी, क्योंकि इसकी जड़ें लोगों के जीवन में होंगी। वह दर्जा टिकाऊ होगा।

●

खेती-अर्थनीति और गाँव-सुधार : 2 :

अगर कोई देश अपनी बुनियादी जरूरतें—खाना, कपड़ा और मकान खुद नहीं पूरी करता, तो उसे आजाद नहीं कहा जा सकता। हमारी खेती-अर्थनीति एक ऐसी चीज है, जो हमें अपने पाँव पर खड़ा कर दे सकती है। हमारा देश हमेशा से खेतिहर देश रहा है और जो भी उद्योग-धंधे यहाँ चलते थे, वे खेती से मिले-जुले होते थे।

कारखाना या धन्धा

अनाज उपजाने का जो अमेरिकी ढंग है, उससे खेती एक धंधे के बजाय एक कारखाना बन गयी है। यह भेद हम इस वजह से साफ-साफ बता देना चाहते हैं; क्योंकि जो तरह-तरह के फर्क बाद में पैदा होते हैं, जो तरीके इस्तेमाल में लाये जाते हैं और जो उसूल अपनाये जाते हैं, वे इसी भेद के नतीजे हैं।

कारखाने की खूबी यह है कि उसे इस बात से कोई सरोकार नहीं रहता कि लोग हिन्दुस्तान में या दुनिया में कहीं भी भूखे मर रहे हैं। उसका तो बस एक ही मकसद होता है, वह यह कि दाम ऊँचे बने रहें। इन्सानियत का कोई ख्याल जरा भी नहीं किया जाता। बस, ख्याल इस बात का रखा जाता है कि पूर्ति कम की जाय, ताकि मांग बनी रहे और दाम चढ़े रहें।

अमेरिका में जमीन भरपूर है। इसलिए वहाँ पर लोग हलवाई के सब निकम्मे और लालची तरीकों को अख्तियार करके महाजनी की खातिर अनाज पैदा करते हैं।

खाद

हमारा देश एक बहुत पुराना देश है, जिसकी आबादी घनी है। दो फसलों के बीच जमीन को कुछ मोहलत मिलनी चाहिए। जमीन से हम जितना ज्यादा कस खींच लेंगे, उतनी ही देर उसके दोबारा जरखेज होने में लगेगी। सदियों के अनुभव के बिना पर हमारे खेती करने के तरीके ऐसी हालत को पहुँच गये हैं, जिनसे जमीन की पैदावार और उसके फिर से भर आने में मेल कायम हो गया है। अगर हम हलवाई के तरीकों को इस्तेमाल

करके यह कोशिश करें कि जमीन को उभारकर जितना हो सके चूस लें, तो जिस रफ्तार से वह अपने को भर सकेगी, उससे कहीं ज्यादा तेजी से हम उसका उपजाऊपन खत्म कर देंगे। हमारी इन करतूतों से एक अच्छा-खासा काश्तकारी के लायक इलाका बंजर रेगिस्तान बन जायेगा। अगर हम खेती के अमेरिकी तरीके अपनाने का फैसला करते हैं, तो यह खतरा हमारे सामने है। बेहतर यह है कि यह देखते हुए कि हमारी जमीन का उपजाऊपन बना रहता है, हम कम पैदावार पर ही संतोष कर लें। सवाल महज पैदावार की तादाद का नहीं है, बल्कि एक महत्त्वपूर्ण चीज यह भी है कि जो जमीन हमें मयस्सर है, उसके लगातार इस्तेमाल और पैदावार में ताल बैठता है या नहीं। हम यह बतायेंगे कि इन दो तरीकों पर जब अमल किया जाता है, तो इससे जो नतीजे पैदा होते हैं, उनमें किस कदर जमीन-आसमान का भेद हो जाता है।

बहुत से साइन्सदानों का कहना है कि बनावटी खाद देने से जमीन का कस जाता रहता है। मिट्टी में कीड़े नाम के जन्तु होते हैं। यह जन्तु हमारी जरूरत का काफी खेती-काम कर डालते हैं। इनके काम के बराबर महत्त्वपूर्ण वह काम नहीं होते, जो आदमी किया करता है; जैसे जुताई, निकाई वगैरह। यह जन्तु मिट्टी में होनेवाला ह्यूमस नामक वनस्पति की जात का माद्दा खा लेते हैं और उसे अन्दर ही अन्दर पचाकर एक ऐसी खाद की शक्ल में बाहर निकालते हैं, जिसे मिट्टी हजम कर लेती है। जमीन में वह जो सुराख किया करते हैं, उसकी वजह से हवा और पानी अन्दर जाना मुमकिन हो जाता है और उनसे कुछ तत्व लेकर मिट्टी मालामाल हो जाती है। इस तरह यह जन्तु सचमुच मिट्टी को उपजाऊ बनाते हैं और अपना कस वापस लाने में उसे मदद देते हैं।

लेकिन बनावटी खाद इस्तेमाल करने से इन जन्तुओं को वह जरूरी वनस्पति माद्दा नहीं पहुँच पाता, जिससे उनको अपनी खुराक मिल जाये। साइन्स से बनायी बनावटी खाद देते रहने से यह जन्तु मर जाते हैं, क्योंकि वह दवाओं पर तो रह नहीं सकते। इनको पनपने की खातिर बाड़े की खाद चाहिए। यह खाद मिट्टी के लिए मानो खास खुराक है। साइन्स की खाद इस्तेमाल करने का तरीका यह है—पहले तो हम जमीन जोतते हैं। जहाँ वह निकम्मी हुई, तो जरा गहरा जोतते हैं। ऐसा करते-करते हमें पता चलता है कि मिट्टी एक चट्टान की तरह सख्त हो गयी है। इसकी वजह यह है कि

मिट्टी को ढीला करनेवाले जन्तु तो खत्म ही हो चुके हैं। बाद में आप किसी तरह भी उस जमीन से काम नहीं ले सकते। हिन्दुस्तान में हमारे पास जमीन वैसे ही थोड़ी है, इस तरीके को अपनाने से बंटाधार ही होगा।

रसायनी खाद को दवा समझना चाहिए। दवा और खुराक में फर्क होता है। दवा की कभी-कभी जरूरत पड़ सकती है। मान लीजिये, कोई आदमी शराब खूब ऊपर तक पीकर नशे में नाच रहा है, तो क्या हम उसके काम को ताकत का कारनामा कहेंगे? यह तो उसकी नसों की एक केवल खलबली है। थोड़ी मेहनत के बाद वह थककर हार जायेगा। जरा देर बाद आप देखेंगे कि वह किसी नाली में पड़ा है। यही हाल रसायनी खाद देने पर जमीन का होता है। माना कि इन खादों का एक महत्त्व है। जब कोई बीमार पड़ता है, तो डॉक्टर आकर सुई लगा जाते हैं। रोग के लिहाज से वे बहुत थोड़ी तादाद में यह इन्जेक्शन देते हैं। वे मरीज की जाँच करते हैं, खास करके दिल की और वह देखते हैं कि मरीज की बर्दाश्त कितनी है। फिर उसी के एतबार से दवा लगाते हैं। मलेरिया में डॉक्टर लोग कुनैन देते हैं। अब फर्ज कीजिये, कोई रोगी यह सोचे—"डॉक्टर मुझे कुनैन दे रहा है। कहता है, दिन में दो-तीन या हद पाँच ग्रेन लो। अगर मैं इकट्ठी ले लूँ, तो जल्दी अच्छा हो जाऊँगा। इसलिए कुनैन का एक लड्डू-सा बनाकर खा डालूँ?" इसका क्या नतीजा होगा? उसका मलेरिया तो अच्छा हो जायेगा, लेकिन न मर्ज रहेगा न मरीज। मलेरिया के जर्म उसे लेकर ही मरेंगे। लेकिन अगर हम मैदे का लड्डू तैयार करें और अपने हाजमे के मुताबिक खायें, तो उससे फायदा ही होगा।

इसलिए रसायनी खाद को खुराक के बजाय दवा के तौर पर इस्तेमाल करना चाहिए। उनका इस्तेमाल तभी किया जाये, जब मिट्टी को अच्छी तरह जाँच लिया गया हो और खास-खास इलाकों में खास-खास तादाद में इस्तेमाल करना चाहिए।

लेकिन जब कोई आदमी धरती के मालामाल हो जाने को कारखाने या सनअत के लिहाज से देखता है, तो धरती की आखिरी गत के लिए उसे जरा भी परवाह नहीं होती। उसे तो बड़ी फसल और जोरदार पैदावार चाहिए। कई बरस तक तो वह जमीन को रसायनी खाद दे-देकर, उपजाऊ बना-बनाकर खूब पैदा कर लेता है। लेकिन बाद में उसे कुछ नहीं मिलनेवाला है।

कारखानों में तो यह तरीका काम में लाया जा सकता है। अमेरिका में पिछले दो साल में पेट्रोल को बुरी तरह इस्तेमाल किया गया है। एक मरतबा वहाँ के लोग यह समझते थे कि हमारे पास पेट्रोल का अथाह भण्डार है। लेकिन अब उनको बाहर के ऐसे इलाके चाहिए, जहाँ पेट्रोल होता हो। कोई इस तरह से बरबादी करता है, तो एक दिन यह नौबत आ जाती है कि वह दूसरे के माल पर हाथ साफ करना चाहता है। यह लोभ जो है, वह हिंसा पैदा करने का जबरदस्त चश्मा है।

बनावटी खाद ऐसी चीज ही नहीं है, जिसे हमारा हिन्दुस्तान बर्दाश्त कर सके। लेकिन अगर आप इसका इस्तेमाल करना ही चाहते हैं, तो साथ-ही-साथ आप देश की सारी मिट्टी की रसायनी जाँच कराइये और यह इत्मिनान कर लीजिये कि कहाँ पर इसकी जरूरत है और कितनी जरूरत है।

कुछ खेत ऐसे हैं, जहाँ ज्वार और दूसरी चीजें बोयी जाती हैं। कुछ पौधे दस-बारह फुट ऊँचे होते हैं और कुछ बालिश्त बराबर भी नहीं होते। इसके क्या मानी हैं? यही कि कहीं जमीन बहुत अच्छी है, कहीं बहुत खराब। उस खराब जमीन को आप देखिये और जो कुछ जरूरी है, उसे दीजिये। हमारे देश में आदमियों के लायक डॉक्टर तो हैं नहीं, मिट्टी के लिए फिर कौन कहे? इसलिए हिन्दुस्तान में रसायनी खाद इस्तेमाल करना बेहूदगी है। बिहार और ट्रावनकोर में रसायनी खाद बनाने के कारखाने हैं। हलवाई की तरह पूँजीपति यह चाहते हैं कि गरीब रैयत की जेब का पैसा अपनी जेब में आ जाये। हिर्स के इन फंदों से हमें बचना चाहिए।

अगर काश्त के इन दोनों तरीकों की हम छानबीन करें, तो पहला तरीका माँ के हलुवा बनाने जैसा है। हमें जमीन की एहतियात वैसी ही रखनी चाहिए, जैसे माँ बच्चे की रखती है। धरती से व्यवहार करने का तरीका या खेती-अर्थनीति को हमें यह ख्याल रखकर बनाना होगा कि हम जमीन को उभार-उभारकर चूसना चाहते हैं या उसे खिलाकर उससे काम लेना चाहते हैं।

धरती के साथ व्यवहार करने के तरीके के नतीजे तरह-तरह के होते हैं। छोटी मुद्दतवाले तरीके बरबादी लाते हैं। अमेरिकी खेती हिन्दुस्तानी खेती की तरह एक धन्धा नहीं, बल्कि व्यापार है। इसलिए किसान का कुदरती विकास रुक जाता और दूसरों के साथ उसका रवैया बदल जाता है। व्यापारी को इसकी जरा भी फिक्र नहीं रहती कि मेरे ग्राहक कौन हैं। खर्च

करनेवाले से उसका कभी कोई सम्बन्ध नहीं होता। माँ के तरीके का आधार तो आदमी और उसकी जरूरतें हैं। हिन्दुस्तान में अनाज की कमी होने पर भी तम्बाकू की काश्त बढ़ायी जा रही है। यह हलवाई ढंग है। खाने के लिए नहीं, बल्कि पैसे के लिए वे पैदा कर रहे हैं। हमारी अर्थनीति में ऐसी हालत और भी बहुत-सी चीजों की है। यह तय करना जरूरी है कि हम क्या करना चाहते हैं? स्वावलम्बन चाहते हैं या मुट्ठीभर आदमियों को मालामाल कर देना चाहते हैं? एक डाम बनाने के माने होते हैं, करोड़ों रुपया खर्च करके लाखों एकड़ जमीन को काश्त में लाना और बिजली पैदा करना। मकसद क्या है? बिजली बेचना। पूँजीपति लोगों की दिलचस्पी तो महज दाम बनाने में है। बिजली बनाने की और लाखों एकड़ में सिंचाई कर लेने की बातें व्यापारी की बातें हैं। अगर आपको बड़े-बड़े इलाके की सिंचाई ही करनी है, तो जरूरत सिर्फ इस बात की है कि जहाँ-जहाँ मिट्टी बही जा रही हो, वहाँ पाँच-पाँच सौ रुपये लगा दीजिये या जहाँ जरूरत हो, कुएँ खुदवा दीजिये। बाकी सब सँभाल गाँववाले कर लेंगे। तब खर्च भी इतना भयानक नहीं होगा। गाँव वालों को सामान सरकार दे ही सकती है। लोगों की मदद से सवाल को हल कर लेने का यह एक बहुत अच्छा ढंग होगा। इससे एक नतीजा यह भी होगा कि लोग सरकारी चीजों की कद्र करने लग जायेंगे और उनको एहतियात से बरतेंगे।

डाम या प्रोजेक्ट नाम की चीज में खतरा है। बिजली कोई अनूठी बरकत नहीं है। साउथ अर्काट जिले में मेटूर डाम में बिजली बनाकर इस्तेमाल के लिए दी गयी। वे (सरकारी लोग) यह चाहते थे कि बिजली के पम्पों की मदद से कुओं और तालाबों में से पानी निकाला जाये। जमीन एकदम बंजर बनी जा रही थी। गाँव वाले काजू के दरख्त काट रहे थे। यह पेड़ काफी अच्छे थे। इनमें कोई बीमारी भी नहीं लगी थी। पूछने पर लोगों ने बताया कि हमारे पास खाने को कुछ है ही नहीं, इसलिए पेड़ काटकर लकड़ी का कोयला बनाकर बेच देते हैं, ताकि कुछ पैसा-दो पैसा मिल जाये और किसी तरह गुजारा हो। उन्होंने यह भी बताया कि बिजली के बड़े-बड़े खम्भों के लग जाने की वजह से हम खेती भी नहीं कर सकते और पानी निकालने के लिए बिजली का इस्तेमाल किया जा रहा है। उन्होंने कहा कि "सरकारवालों ने बिजली के पम्प जब बेचे, तो जिन-जिनके पास पैसा था, उन्होंने ये पम्प खरीद लिये। हमारे पास पैसा कहाँ? जो रईस हैं, अच्छे खाते-पीते हैं, उन्होंने खरीद लिये और पम्प से पानी खींच लेते हैं। नतीजा

यह होता है कि तीस फुट के करीब गहरे जितने कुएँ हैं, वे सूख जाते हैं और बेचारे गरीब आदमी पानी के बिना तंग हैं। हम लोग तो बैल की मदद से पानी निकाला करते थे, लेकिन हमारे तालाब भी अब सूख गये हैं।''

जो टुकड़े जमीन की तरह मालूम पड़ते थे, वह पहले तालाब थे। जब पम्प नहीं चले थे, तो पैसेवाले लोग भी ज्वार बोते थे, लेकिन अब वह फल उगाते हैं। सब तरह के फल उन्होंने लगा रखे हैं। इन फलों का होता क्या है? बम्बई, बंगाल, मद्रास और कलकत्ता भेज दिये जाते हैं। इस तरह बिजली के पम्प ने पानी को बम्बई, बँगलोर, मद्रास और कलकत्ते भेज दिया और गरीब की रोजी मारी गयी। भूखों मरने से बचने के लिए वे पेड़ काट-काटकर कोयला बनाकर बेच रहे हैं, ताकि किसी तरह जिन्दा रह सकें। अब आपने देखा कि हलवाई की अर्थनीति से हम कहाँ-के-कहाँ पहुँचे? लोगों को धोखा दिया गया और आखिरी नतीजा हुआ उनकी बरबादी। इससे पता चलता है कि अच्छी दिखाई देनेवाली स्कीमें किस तरह गरीबों को सताती हैं। इसलिए ऐसी स्कीमों की मुकामी लोगों को दिखाया जाये, वे उन्हें समझें, उनके भले-बुरे नतीजे पर गौर करें, यह देखें कि यह उन्हें कहाँ ले जायेंगी और इस बात का ख्याल करें कि इनसे उनको किसी तरह का नुकसान तो नहीं पहुँचनेवाला है। हमको इस बहकावे में नहीं आ जाना चाहिए कि अमेरिका में यह किया जा रहा है, न्यूजीलैण्ड में वह किया जा रहा है, वगैरह। हमारे तरीके ऐसे होने चाहिए, जो हमारे देश की हालतों के मुताबिक फिट बैठें।

अनाज का भाव

अनाज और खेती की दूसरी चीजों का भाव किसान नहीं तय किया करता है। इसके अलावा कुछ चीजें ऐसी हैं, जिन पर उसका कोई बस नहीं चलता है और फिर मानसून के सहारे रहने की वजह से साल में कई महीने वह खाली भी रहता है। लेकिन इस अर्से में पेट को तो रोटी चाहिए ही। लेकिन इस बात को हम पैदावार के दाम लगाते समय भूल ही जाते हैं। मान लीजिये, किसी आदमी ने बाइसिकिल बनाकर छह महीने तक अपने शो रूम में छोड़ दी। जब वह उसे बेचता है, तो मकान-भाड़ा लगाकर और काफी मुनाफा वगैरह जोड़कर दाम निकालकर बेचता है। यह सब चीजें तैयारी या पैदावार के दाम में शामिल की जाती हैं। यही बात किसान के बारे में लागू होनी चाहिए, हमारे अर्थकार कहे जानेवाले विद्वान् लोग बैठे-बैठे लोहा,

तेल, कपड़े वगैरह ऐरी-गैरी चीजों के दाम लगाकर कुछ छू-मंतर करके 'दाम-इन्डेक्स' नाम का जादू दिखाते हैं। इससे वह यह हिसाब लगाते हैं कि अनाज के क्या भाव होने चाहिए और उसी भाव को पक्का ठहरा देते हैं। उन्हें इससे कोई मतलब ही नहीं कि असली खर्च कितना पड़ा। यह स्वांग सरकार और शहरी खर्चकार दोनों मिलकर करते हैं—पैदाकार से जरा भी नहीं पूछते। इस तरह सरकार और खर्चकार मिलकर देहात को लूटते हैं। यह चीज जोरों से हो रही है। वे इन मानों में देहात को सचमुच लूटते हैं कि उसके लगाये भाव का कोई ताल्लुक असली पैदावार से कुछ भी नहीं होता। यह हरकत अंग्रेजी राज्य में तो होती ही थी, आज भी हो रही है।

किसानों को चूसा न जाये और उनकी जरूरतें इत्मिनान के साथ पूरी हो सकें—इन बातों को ध्यान में रखकर मैंने 'समतोली खेती' नाम की एक योजना तैयार की है। 'समतोली खुराक' के नाम से तो पढ़े-लिखे लोग वाकिफ हैं। लेकिन यह खुराक, फिर खासकर देहात में कहाँ नसीब होती है! हमने यह हिसाब लगाया है कि ऐसी खुराक पहुँचाने के वास्ते दस-पंद्रह गाँव की आबादी के लिए कितनी जमीन की दरकार होगी। इसके बाद उस इलाके का सर्वे किया जाता है यह देखने के लिए कि कितने एकड़ में गेहूँ बोया जा सकता है, कितने में सब्जी, कितने में मक्का वगैरह और इस तरह हम यह पता चलाते हैं कि खेती को समतोली कैसे बनाया जाये। अगर कोई-कोई चीज हमारे पास कम है, तो कोई-कोई ज्यादा भी हो सकती है। इन बढ़ती चीजों का कम चीजों के बदले में लेने-देन कर लिया जाता है। अगर बढ़ती चीजों का ही लेन-देन किया जाता है, तब हिंसा या अन्याय की कोई गुञ्जाइश ही नहीं है। हिंसा और अन्याय तो ऐसी लेन-देन से पैदा होते हैं, जो स्वावलम्बन के दर्जे से नीचे रहती हैं।

लेकिन यह तभी किया जा सकता है, अगर हम खेती को एक धंधे की शक्ल में देखें। अगर हम सारे इलाके को माली तौर से ऊपर उठाना चाहते हैं, तो जमीन का इस्तेमाल समझ-बूझकर करना चाहिए। खेती अपनी जरूरत के मुताबिक होनी चाहिए और जो चीजें हमारे पास अपनी जरूरत से ज्यादा हैं, उनका लेन-देन उन चीजों से किया जाये, जिनकी हमें जरूरत है। यह तो हुई बात जमीन को इस्तेमाल में लाने की।

मिलकियत

जमीन की हर तरह की मिलकियत पाप है। आज हमारे यहाँ, खासकर, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में जबरदस्त जमींदारी-प्रथा है, जिसको हम

जन-जायदाद का गबन कहेंगे। गबन से यह किस्म तरह कम नहीं है। एक आदमी कितनी धूप का मालिक होता है? धूप, हवा, पानी वगैरह में मिलकियत हो ही नहीं सकती। इसी तरह से जमीन पर—जो भगवान् की दी हुई सामाजिक जायदाद है—कोई कब्जा नहीं माना जा सकता। यह तो सारे समाज के फायदे की खातिर इस्तेमाल करने के लिए है। जैसे धूप, पानी, हवा वगैरह समाज की मानी जाती हैं, इसी तरह जमीन भी समाज की मानी जानी चाहिए। किसी आदमी को उतनी ही जमीन दी जा सकेगी, जितनी समाज के भले के लिए इस्तेमाल करने की उसमें काबलियत हो। जमीन पर मिलकियत तो समाज की होनी चाहिए। पहले हमारे यहाँ ऐसे होता था। गाँवभर जमीन का मालिक होता था और जुदा-जुदा कुटुम्बों को काश्त के लिए वह दे दी जाती थी।

जो आदमी जिस जमीन पर काश्त करे, उसे उस जमीन की पैदावार का पूरा फायदा मिलना चाहिए और जो बेशी बचे, सिर्फ उसे ही दूसरे लोगों में बाँटा जाये। जब यह रिवाज चालू होगा, तभी बँटवारा-न्याय कायम हो सकेगा। बँटवारा तो लोगों की जरूरत के मुताबिक करना ही पड़ेगा। निजी तौर पर चीजों का लेन-देन हमें बन्द कर देना होगा। यह काम सहयोगी सोसाइटी या इसी तरह के कण्ट्रोलिंग साधन के जरिये किया जा सकता है।

बाँटने का काम एक-एक आदमी के सुपुर्द न होकर सहयोगी सोसाइटियों के सुपुर्द हो। बेशी चीजों को ऐसे तरीके से सँभाला जाये कि उनका कण्ट्रोल किया जा सके। इसी सूरत से पैदावार को ठीक तरीके से बाँटा जा सकेगा।

मदद

खेती पर जो मदद आज काम करती है, उसमें गुलामी की बू आती है। वैसे तो देशभर में ऐसे तरीके बरते जाते हैं, जिनका इन्सानियत से कोई वास्ता नहीं। अगर हमारी खेती-अर्थनीति को सही आधार पर बनाये रखना है, तो यह चीज बन्द होनी चाहिए। गोरखपुर में गुबरिस नाम का रिवाज चलता है। यह गुबरिस क्या बला है? जमींदार मजदूरों को यह हक देता है कि गोबर बटोर लें। वह इसे धोकर इसमें से कुछ दाने अपने खाने के लिए निकाल सकता है! यह दाने कौन से हैं? वही, जो कि जमींदार के जानवर ने पूरी तरह हजम न कर सकने की वजह से पाखाने के रास्ते निकाल दिये! इन गरीबों के लिए यह रियायत समझी जाती है और उनकी मजदूरी का एक हिस्सा है। इससे पता चलता है कि किस तरह खेती पर काम करनेवाली हमारी मदद को जलील किया जा रहा है।